Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal

(International Open Access, Peer-reviewed & Refereed Journal)

(Multidisciplinary, Monthly, Multilanguage)

*** Vol-3* *Issue-9* *September 2026***

www.researchvidyapith.com **ISSN (Online): 3048-7331**

आचारांग सूत्र में वर्णित तत्व ज्ञान एवं आचार का तुलनात्मक अध्ययन

चाँदनी कुमारी

शोध छात्रा, NET JRF, स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, बिहार

प्रो० (डॉ०) दुधनाथ चौधरी

शोध निर्देशक एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, बिहार

Article Info: *(Recieved- 04/07/2026, Accept- 11/08/2026, Published- 05/09/2026)*

DOI- 10.70650/rvimj.2026v3i9004

आचारांग सूत्र का प्रारम्भ आत्म जिज्ञासा से होता है। आत्मा नित्यानित्य है, कर्त्ता है और भोक्ता है। बन्ध भी है और उसका हेतु भी है। मोक्ष है और उसका हेतु भी है। ये सभी आचार शास्त्र के आधारभूत तत्त्व हैं। आचार सूत्र केवल तत्व ज्ञान और आचार को ही मान्यता नहीं देता बल्कि तत्व ज्ञान और आचार समन्वित होकर मोक्ष हेतु बनते हैं। इसलिए ज्ञान से आचार और आचार से ज्ञान को पृथक नहीं किया जा सकता। आचारांग मूलतः दर्शन का ग्रन्थ न होकर आचार शास्त्र का भी ग्रन्थ है फिर भी ऐसा कहा जा सकता है कि उसमें दर्शन के तत्वों का पूर्णतः अभाव है। आचारांग का प्रारम्भ ही एक पारिणामिक नित्य आत्मा की अवधारणा से होती है। आचारांग आत्मा और पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार करके चलता है।[1] वह कर्म की अवधारणा को भी स्वीकार करता है तथा यह मानता है कि कर्म ही बन्ध के कारण हैं। यदि हम सूक्ष्मता से देखें तो उसमें कर्म को पौद्गलिक मानकर कर्म शरीर का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार आचारांग में आश्रव, संवर और प्राकारान्तरा से निर्जरा की व्यवस्थायें भी उपलब्ध हो जाती हैं। आचारांग मुक्तात्मा के अनिर्वचनीय स्वरूप की भी औपनिषदिक शैली में व्याख्या करता है।[2]

इस प्रकार हम कह सकते है कि आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म, बन्धन, आश्रव, संवर और मुक्ति इन सब अवधारणाओं को चाहे सापेक्ष में ही क्यों न हो स्वीकार करके चलता है। फिर भी उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि आचारांग दर्शन के सम्बन्ध में केवल इन्हीं तथ्यों को रखना चाहता है जो उसके आचार शास्त्र के पूर्व मान्यता के लिए अपरिहार्य है। जैनधर्म का जो विकसित तत्वज्ञान है उसका उसमें अभाव ही देखा जाता है, जीव और पुद्गल को छोड़कर आकाश, धर्म, अधर्म और काल की उसमें कोई स्वतन्त्र व्याख्या नहीं है।

जहाँ तक आचारांग में प्रतिपादित आचार नियमों का प्रश्न है मूलतः वे सभी नियम अहिंसा को केन्द्र में रखकर बनाये गये हैं। आचारांग के आचार नियमों का केन्द्र बिन्दु अहिंसा का परिपालन ही है।3 जीवन में अहिंसा और अनाशक्ति को किस चरमसीमा तक अपनाया जा सकता है इसका आदर्श हमें आचारांग में देखने को मिल सकता है। आचारांग के दो श्रुतस्कन्धों में जहाँ प्रथम श्रुतस्कन्ध आचार के सामान्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है वहाँ द्वितीय श्रुतस्कन्ध उसके व्यवहार पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। विद्वानों ने आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध को प्रथम श्रुतस्कन्ध की व्यावहारिक व्याख्या ही माना है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में मूलतः अहिंसा, अनासक्ति तथा कषाओं और वासनाओं के विजय का सूत्र रूप में संकेत किया गया है। जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध में इनसे ऊपर उठकर कैसा जीवन जीया जा सकता है इसका चित्रण किया गया है। दूसरा श्रुतस्कन्ध मूलतः मुनि जीवन की भोज, वस्त्र, पात्र, आदि सामान्य आवश्याओं की पूर्ति किसी प्रकार की जाये इसका विस्तार से विवेचन करता है। आचार और विचार की अन्योन्याश्रता को दृष्टि में रखते हुए भारतीय चिन्तकों ने धर्म व दर्शन को साथ–साथ प्रतिपादन किया है। उन्होंने तत्त्व ज्ञान के साथ ही साथ आचारशास्त्र का भी निरूपण किया एवं बताया कि ज्ञानविहीन आचरण नेत्रहीन पुरुष की गति के समान है। जबकि आचाररहित ज्ञान पंगु पुरुष की स्थिति के सहारा है।[4] जिस प्रकार अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए निर्दोष आँख और पैर दोनों आवश्यक है, उसी प्रकार आध्यात्मिक सिद्धि के लिए दोषरहित ज्ञान व चरित्र दोनों अनिवार्य है।

भारतीय विचार–परम्पराओं में आचार व विचार दोनों को समान रूप से स्थान दिया गया है। उदाहरण के लिये मिमांसा परम्परा का एक पक्ष पूर्वमीमांसा आचार प्रधान है जबकि दूसरा पक्ष उत्तरमीमांसा (वेदान्त) विचारप्रधान

है। सांख्य और योग क्रमशः विचार और आचार का प्रतिपादन करने वाला एक ही परम्परा के दो अंग है। बौद्ध परम्परा में हीनयान और महायान के यप में आचार और विचार की दो धारायें हैं। हीनयान आचार प्रधान है तथा महायान विचार प्रधान। जैन परम्परा में ही आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है।5 अहिंसामूलक आचार एवं अनेकान्त विचार का प्रतिपादन जैन विचार धारा की विशेषता है।

वैदिक दृष्टि से भारतीय साहित्य में आचार के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। वैदिक संहिताओं में लोकजीवन का जो प्रतिबिम्ब मिलता है उससे प्रकट होता है कि लोगों में प्रकृति के कार्यों के प्रति विचित्र जिज्ञासा थी। उनकी धारणा थी कि प्रकृति के विविध कार्य देवों के विविध रूप थे, विविध देवों, प्रकृति के विविध कार्यों के रूप में अभिव्यक्त होते थे। ये देव अपनी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के आधार पर उनका हित–अहित कर सकते थे इसलिए लोग उन्हें प्रसन्न रखने अथवा करने के लिए उनकी स्तुति करते, उनकी यशोगाथा गाते। परिणामतः यज्ञायागणणि का प्रादुर्भाव हुआ एवं देवों को प्रसन्न करने की एक विशिष्ट आचार–पद्धति ने जन्म लिया। इस प्रकार विविध प्रकार के नियमों, गुणों, दण्डों के प्रवर्तकों के रूप में विभिन्न देवों की कल्पना की गई।

औपनिषदिक रूप में उपनिषदों में ऐहिक सुख को जीवन लक्ष्य न मानते हुए श्रेयस् को परमार्थ माना गया है तथा प्रेयस् को एवं श्रेयस को उपादेय बताया गया है। इस जीवन को अन्तिम सत्य न मानते हुए परमात्मतत्व को यथार्थ कहा गया है। आत्म–तत्व का स्वरूप समझाते हुए इसे शरीर, मन, इन्द्रियों से भिन्न बताया गया है। इसी दार्शनिक भित्ति पर सदाचार, सन्तोष, सत्य आदि अतिरिक्त गुणों का विधान किया गया है। इन गुणों के आचरण से श्रेयस् की प्राप्ति होती है। श्रेयस के मार्ग पर चलने वाले विरले होते हैं। संसार के समस्त प्रलोभन श्रेयस् के समाने नगण्य हैं अर्थात् तूक्ष्य हैं।

सूत्र, स्मृतियाँ व धर्मशास्त्रों में मनुष्य के जीवन की निश्चित योजना दृष्टिगोचर होती है।6 इनमें मान–जीवन के कर्तव्य–अकर्तव्यों के विषय में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। वैदिक विधि–विधानों के साथ ही साथ सामाजिक गुणों एवं आध्यात्मिक विशुद्धियों का भी विचार किया गया है। संक्षेप में कहा जाये तो इनके भौतिक सुखों एवं आत्मिक गुणों का समन्वय करने का प्रयत्न करते हुए सूत्रों एवं धर्मशास्त्रों में मानव जीवन के चार सोपान, चार आश्रम निर्धारित किये गये हैं जिनके अनुसार आचरण करने पर मनुष्य का जीवन सफल माना जाता है। इन चार आश्रमों के परिभाषिक नाम ये हैं– ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम व सन्यासाश्रम।[7]

ब्रह्मचर्याश्रम में शारीरिक व मानसिक अनुशासन का अभ्यास किया जाता है जो सारे जीवन की भूमिका का काम करता है। गृहस्थाश्रम सांसारिक सुखों के अनुभव व कर्तव्यों के पालन के लिए है। वानप्रस्थाश्रम सांसारिक प्रपंचों के आंशिक त्याग का प्रतीक है। आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति के लिए सांसारिक सुख–सुविधाओं के हेतु किये जानेवाले प्रपंचों का सर्वथा त्याग करना संन्याश्राम है। इन चार आश्रमों के साथ ही साथ चार प्रकार के वर्णों के कर्तव्याकर्तव्यों के लिए आचार संहिता भी बनाई गई। आचार के दो विभाग किये गये। सब वर्णों के लिए सामान्य आचार और प्रत्येक वर्ण के लिए विशेष आचार अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक आश्रम के लिए विभिन्न कर्त्तव्यों का निर्धारण किया गया है उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के लिए विभिन्न कर्त्तव्य निश्चित किये गये हैं। इसी व्यवस्था अर्थात् आचार संहिता का नाम वर्णाश्रम–धर्म अथवा वर्णाश्रम–व्यवस्था है।

भारतीय आचारशास्त्र का सामान्य आधार कर्म सिद्धान्त है। कर्म का अर्थ है चेतनाशक्ति द्वारा की जानेवाली क्रिया का कार्य–कारण भाव। जो क्रिया अर्थात् आचार इस कार्य–कारण की परम्परा को समाप्त करने में सहायक है वह अचारणीय है। इसके विपरीत आचार त्याज्य है। विविध धर्मग्रन्थों, दर्शनग्रन्थों एवं आचारग्रन्थों में जो विधि ानिषेध उपलब्ध हैं, इसी सिद्धान्तों पर आधारित हैं। योग–विद्या का विकास इस दिशा में एक महान् प्रयत्न है। भारतीय विचारकों ने कर्ममुक्ति के लिए ज्ञान, भक्ति एवं ध्यान का जो मार्ग बताया है वह योग का ही मार्ग है। ज्ञान, भक्ति एवं ध्यान को योग की ही संज्ञा दी गई है। इतना ही नहीं, अनासक्त कर्म को भी योग कहा गया है। आत्मनियंत्रण अर्थात् वित्तवृत्ति के विरोध के लिए योग अनिवार्य है। योग चेतना की उस अवस्था का नाम है जिसमें मन व इन्द्रियाँ अपने विषयों से निरत होने का अभ्यास करते हैं। ज्यों–ज्यों योग की प्रक्रिया का विकास होते जाता है त्यों–त्यों आत्मा अपने आप में लीन होती जाती है। योगी को जिस आनन्द व सुख की अनुभूति होती है वह दूसरों के लिए अलभ्य है। वह आनन्द वह सुख बाह्य पदार्थों पर अवलम्बित नहीं होता अपितु आत्मावलम्बित होता है। आत्मा का अपनी स्वाभाविक विशुद्ध अवस्था में निवास करना ही वास्तविक सुख है। यह सुख जिसे हमेशा के लिए प्राप्त हो जाता है वह कर्मजन्य सुख–दुःख के मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण है।

कर्म से मुक्त होना इतना आसान नहीं है। योग की साधना करना इतना सरल नहीं है। इसके लिए धीरे–धीरे निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता है। आचार व विचार की अनेक कठिन अवस्थाओं से गुजरना होता है। आचार के अनेक नियमों एवं विचारों के अनेक अंकुशों का पालन करना पड़ता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए विभिन्न अंगों तथा रूपों का प्रतिपादन किया।[8]

वेदान्त में सामान्यतया आत्मिक विकास के सात अंग अथवा सोपान माने गये हैं। प्रथम अंग का नाम शुभ इच्छा है। इसमें वैराग्य अर्थात् सम्यक् पथ पर जाने की भावना होती है। द्वितीय अंग विचारणारूप है। इसमें

शास्त्रध्ययन, सत्संगति और तत्त्व का मूल्यांकन होता है। तृतीय अंग तनुमानस रूप है जिसमें इन्द्रियों और विषयों के प्रति अनासक्ति होती है। इसके बाद की जो अवस्था है उसमें मानसिक विषयों का निरोध प्रारम्भ होकर मन की शुद्धि होती है। इस अवस्था का नाम सत्यापत्ति है। इसके बाद पदार्थभावनी, अवस्था आती है जिसमें ब्राह्य वस्तुओं का मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सातवाँ अंग तुरीयगा कहलाता है। इसमें पदार्थों का मन से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता तथा आत्मा का सत् चित् व आनन्द रूप ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। यह अवस्था निर्विकल्प समाधिरूप है।

योगदर्शन का अष्टांग योग प्रसिद्ध ही है। प्रथम अंग यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का समावेश होता है। द्वितीय अंग नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय का ईश्वरप्राणिधान का समावेश किया जाता है। तृतीय अंग का नाम आसन है। चतुर्थ अंग प्राणायाम रूप है। पाँचवां अंग प्रत्याहार, छन्द, धारण, सातवां ध्यान व आठवां समाधि कहलाता है।9 विर्निकल्प समाधि आत्मविकास की अंतिम अवस्था होती है जिसमें आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में अवस्थित हो जाती है।

मीमांसा व स्मृतियों आदि में क्रियाकाण्ड पर अधिक भार दिया जाता है जबकि सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, वेदान्त आदि आत्मशुद्धि पर विशेष जोर देते हैं। बौद्धों के अनुसार हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं– ज्ञात और अज्ञात। इन्हें बौद्ध परिभाषा में विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति परोक्ष अर्थात् अज्ञात रूप से किसी अन्य द्वारा किसी प्रकार पाप काम करता है तो वह अविज्ञप्ति–कर्म करता यही बात शुभ प्रवृत्ति के विषय से भी है। अतः शील भी विज्ञप्ति व अविज्ञप्ति रूप दो प्रकार का है। बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्येक क्रिया के तीन भाग होते है– 1. प्रयोग, 2. कर्मपथ और 3. पृष्ठ। क्रिया की तैयारी करना प्रयोग है। वास्तविक क्रिया कर्मपथ है। अनुगामिनी क्रिया का नाम पृष्ठ है। उदाहरण के रूप में चोरी को लें। जब कोई चोरी करना चाहता है, चुपचाप घर में घुसता है, रुपये पैसे व अन्य वस्तुएं ढूंढता है और उन्हें वहाँ से उठाता है। यह सब प्रयोग के अन्तर्गत है। चोरी का सामान लेकन वह घर से बाहर निकलता है, यही कर्मपथ है। उस समान को वह अपने साथियों में बाँटता है, बेचता है अथवा छिपाता है। ये तीनों प्रकार विज्ञप्ति, व अविज्ञप्ति रूप होते हैं। इतना ही नहीं, एक प्रकार का कर्मपथ दूसरे प्रकार के कर्मपथ का प्रयोग अथवा पृष्ठ बन सकता है। इसी प्रकार अन्य पापों एवं शुभ क्रियाओं के भी तीन विभाग कर लेने चाहिए। वस्तुतः प्रयोग, कर्मपथ व पृष्ठ प्रवृत्ति की अथवा आचार की तीन अवस्थाएँ हैं। इन्हें प्रवृत्ति के तीन सोपान भी कह सकते हैं। किस प्रकार की प्रवृत्ति अर्थात् कर्म से किस प्रकार का फल प्राप्त होता है, इसका भी बौद्ध साहित्य में पूरी तरह विचार किया गया है।

इस प्रकार आचारांग सूत्र तत्त्व ज्ञान एवं आचार का सैद्धांतिक व व्यवहारिक पक्ष का अध्ययन करता है। चूँकि मानवीय आचार ज्ञान के निकट से जुड़ा हुआ है। अतः यह स्वभाविक है कि आचार के सम्बन्ध में कोई भी प्रमाणिक चिन्तन मनोवैज्ञानिक आधार पर ही किया जा सकता है। हमें क्या करना चाहिए और किस बात पर निर्भर रहना चाहिए, हमारी क्षमताएँ और सम्भावनाएँ क्या हो सकती है, किसी साध्य और सिद्धांत का निर्धारण हमे कैसे करे, इन सारी बातों का अध्ययन हमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी करना चाहिए। आचारांग में आचार के सिद्धांतों एवं नियमों के प्रतिपादन में किस सीमा तक दार्शनिक ज्ञान, मनोवैज्ञानिक चिन्तन और सामाजशास्त्रियों दृष्टि का प्रयोग हो सकता है, इसमें क्रोध, मान–माया, लोभ–राग, द्वेष–मोह आदि का भी समावेश है।

Author's Declaration:

I/We, the author(s)/co-author(s), declare that the entire content, views, analysis, and conclusions of this article are solely my/our own. I/We take full responsibility, individually and collectively, for any errors, omissions, ethical misconduct, copyright violations, plagiarism, defamation, misrepresentation, or any legal consequences arising now or in the future. The publisher, editors, and reviewers shall not be held responsible or liable in any way for any legal, ethical, financial, or reputational claims related to this article. All responsibility rests solely with the author(s)/co-author(s), jointly and severally. I/We further affirm that there is no conflict of interest financial, personal, academic, or professional regarding the subject, findings, or publication of this article.

संदर्भ–सूची

1. जैन धर्म का वृहद् इतिहास, भाग 1, दलसुख मालवाणिया – पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
2. आचारांगसूत्र– 1/2, श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यायावर, राजस्थान, 1980
3. आचारांगसूत्र– 1/1/9, श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यायावर, राजस्थान, 1980
4. आवश्यक निर्युक्ति, श्लोक– 11, आचार्य भद्रबाहु, जैन विश्वभारती, लाडनू– 1986
5. बौद्ध दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली – 1956
6. मनुस्मृति, मनु 1794

7. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे – भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्सटियूट, पूना
8. जैन दर्शन, पं. महेन्द्र कुमार जैन, पृ. 67, श्री गणेशवर्णी संस्थान, वाराणसी– 1955
9. पतांजल योगदर्शन, डॉ० मृदुल कीर्ति, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ. 16.

Cite this Article

'चाँदनी कुमारी; प्रो० (डॉ०) दुधनाथ चौधरी', "आचारांग सूत्र में वर्णित तत्व ज्ञान एवं आचार का तुलनात्मक अध्ययन", Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal, ISSN: 3048-7331 (Online), Volume:3, Issue:9, September 2026.

"Copyright © 2026 The Author(s). This work is licensed under Creative Commons Attribution 4.0 (CC-BY), allowing others to use, share, modify, and distribute it with proper credit to the author."